

आज के भारत में अलगाव का सवाल

जैसा कि पाठकों को मालूम है कि इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम 'आह्वान' टीम के साथियों और अन्य संवेदनशील-चिन्तनशील युवाओं द्वारा प्रस्तुत उन विचारप्रकल्पों-टिप्पणियों को प्रकाशित करते हैं जिनमें समाज के किसी ज्वलन्त प्रश्न, किसी राजनीतिक-सामाजिक घटना-परिघटना या किन्हीं प्रातिनिधिक सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों-प्रवृत्तियों का दार्शनिक धरातल पर विवेचन किया गया हो। मौजूदा संक्रमणकालीन समय में नयी पीढ़ी के संवेदनशील तत्वों के मानसिक-भावात्मक जगत में एक बेचैन कर देने वाली उथल-पुथल का मौजूद रहना नितान्त स्वाभाविक है। इसी उथल-पुथल के बीच से निकलकर भविष्य को सिरजने वाले विचार व्यापक युवा आबादी के बीच भी पुष्टि-पल्लवित होते हैं जो कालान्तर में एक परिवर्तनकामी भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लेते हैं हमें उम्मीद है कि इस स्तम्भ के जरिये 'आह्वान' के पाठक एक सामूहिक चिन्तन-प्रक्रिया के जीवन्त साझीदार बन सकेंगे। -सम्पादक

अभिनव सिन्हा

अपने पिता की पीढ़ी के लोगों से जब भी 'कालेज लाइफ' के किसी-कहानियां सुनता हूं तो एक अहसास हमेशा जेहन में उभरता है। वह दोस्तानापन, जीवनन्तता, सब कुछ उड़ेलकर रख देने वाली वह बेतकललुपी, रिश्तों की वह गर्मीहट, सामूहिकता, युवासुलभ बेफिरी की सतह के नीचे बहती मानवीय सामाजिक-सरोकारों की धारा-यह सब हमारी पीढ़ी में क्यों नहीं? बात यह नहीं कि आज युवाओं के बीच दोस्तियां नहीं होतीं। खूब होती हैं। पर हमेशा यह महसूस होता रहता है कि एक दूसरे को दोस्त कहनेवाले युवाओं के बीच जैसे कोई अदृश्य दीवार खड़ी है जो पूरी तरह बेतकललुप होने से रोके रहती है। जीवनन्तता का स्थान खोखले खिलन्दड़पने ने ले लिया है जो अक्सर एकसता दूर करने की तरह-तरह की बचकानी ओछी तरकीबों के रूप में सामने आता है। सामूहिकता के बजाय 'है भीड़ इतनी पर दिल अकेले' की स्थिति नज़र आती है। यूं लगता है जैसे हर युवा अपने-अपने सपनों-अरमानों का गट्ठर पीढ़ पर लादे अपने-अपने टापुओं पर अकेले-अकेले भटक रहा है।

सचमुच, हमारी पीढ़ी एक भीषण अलगाव की शिकार है। आज यह हमारे भारतीय समाज का नग्न यथार्थ बन चुका है। फिर इससे मुँह मोड़ना भला कैसे संभव है? इसलिए हमें इस यथार्थ की गहरी पड़ताल करनी चाहिए, इसे अच्छी तरह समझना चाहिए, क्योंकि चीजों को बदलने के लिए चीजों को समझना होता है और चीजों को बदलने की प्रक्रिया में खुद

को बदलना होता है।

दरअसल, व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही एक सामाजिक प्राणी होता है। बार-बार कही गयी यह उक्ति एक धिसा-पिटा वाक्य नहीं है। व्यक्ति (Individual) समष्टि (Collective) के एक अंग के रूप में ही सर्वाधिक स्वस्थ ढंग से विकसित हो सकता है और अपनी सर्वोकृष्ट सर्जनात्मकता को प्रकट कर सकता है। मानव समाज के ऐतिहासिक विकास की लम्बी प्रक्रिया में किस तरह व्यक्ति समष्टि से अलग होता हुआ आत्मविद्यनकारी होने तक पहुंच चुका है, इसका सुन्दर एवं सारांभित चित्रण मविस्म मगर्कों ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'व्यक्तित्व का विघटन' में किया है। व्यक्ति से समष्टि की कड़ी जब विच्छिन्न होती है। व्यक्ति से समष्टि की कड़ी जब विच्छिन्न होती है तभी जाकर एक खुदगर्ज, आत्मरति का शिकार एक चरम निरंकुशवादी व्यक्तिवादी व्यक्तित्व पैदा होता है। इसी प्रक्रिया में "मेरी मर्जी..." वाली मानसिकता पनपती है। यहीं से निरंकुश व्यक्तिवादी नायकों के प्रति आकर्षण पैदा होता है, जो नायिका के प्रति 'ओवर पजेसिव' होता है। 'तू हां कर या ना कर, तू है मेरी...' के थीम सांग वाली फिल्में अगर हिट हो रही हैं तो जाहिर है कि अकेलेपन की समस्या मानसिक बीमारी की हों तक समाज में व्याप्त हो चुकी है। आज के युवा वर्ग के इस बदले हुए मानस को समझना सामाजिक बदलाव में सचेत रूप से लगे युवाओं के लिए बेहद जरूरी है।

दरअसल, आज युवाओं के बीच समाज में सुरक्षित-सम्मानजनक मुकाम हासिल करने

के लिए अन्धी होड़ मची हुई है। जैसे-जैसे भविष्य की अनिश्चितता बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे छात्रों युवाओं की व्यापक आबादी अपनी सहज स्वाभाविक सामाजिकता-सामूहिकता से दूर आत्मकेन्द्रण की गुफा में कैद होती जा रही है। दरअसल, अपनी निज की समस्या को एक व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में न देख पाने के कारण वे एक जुआरी मानसिकता में सामाजिक मुकाम हासिल करने के लिए दांव खेल रहे हैं। सामाजिक जीवन की यह असुरक्षा-अनिश्चितता उनके भावनात्मक जगत को भी असुरक्षित बना रही है। नतीजतन एक घातक अकेलापन उन्हें अपनी चपेट में ले रहा है इस त्रासद स्थिति का शिकार युवा मन सिनेमा के पर्दे पर जब शाहरुख खान जैसों द्वारा अभिनीत चरित्रों को देखता है तो उसका अवचेतन मन अनायास ही उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

छात्र-युवा वर्ग ही इस अलगाव का शिकार नहीं है और न ही यह केवल महानगरीय जीवन का यथार्थ है। यह ग्रामीण जीवन को भी अपनी चपेट में ले चुका है। औद्योगिक मजदूर वर्ग के साथ-साथ ग्रामीण मेहनतकश आबादी तक आत्मघाती अलगाव पसर चुका है। गांवों का रससिक्त रागात्मक जीवन व किसानी सामुदायिकता, की तमाम संस्थाएं तेजी से अतीत की चीजें बनती जा रही हैं। गांव की चौपालों का स्थान बाजारों ने ले लिया है। चैती-फाग, आल्हा-लोरिकायन गाने वाले अब मुश्किल से ही मिल पाते हैं। अब गांवों में भी केबुल कनेक्शन पहुंच चुके हैं। तिलक-विवाह, छठी-बरही और अन्य खुशी

के मौकों पर अब सोहर-कजरी कम ही सुनायी पड़ती है। इसकी जगह अब अब बर्थडे पार्टी और आर्केस्ट्रा की संस्कृति तेजी से पहुंचती जा रही है। शहरों के करीब बसे मौकों में तो डीजे तक पहुंच रहे हैं। इन परिवर्तनों को घटित होना ही था। ये समाज विकास की स्वाभाविक परिणतियां हैं। आज इन पर रोने-बिसूने या छाती पीटने से कोई लाभ नहीं। पुरानी सामूहिकता और रागात्मकता आज वापस नहीं लौट सकती। लेकिन बुर्जुआ अलगाव भी मनुष्य की नियति नहीं है। समाज एक नयी उन्नत जमीन पर खड़ी सामूहिकता की ओर आगे बढ़ेगा।

भारतीय गांवों में तेजी से हो रहे ये सांस्कृतिक परिवर्तन दरअसल पिछले पचपन सालों में देश में हुए पूंजीवादी आर्थिक-सामाजिक विकास की प्रक्रिया और परिणितियों से सीधे तौर पर जुड़े हैं। 1947 में अंग्रेज उपनिवेशवादियों के हाथ से सत्ता अपने हाथों में लेने के बाद भारतीय पूंजीपति वर्ग ने पूंजीवादी विकास का जो रास्ता चुना उसने केवल आर्थिक दायरे में ही नहीं बरन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भी तमाम पुरानी संरचनाओं को तहस-नहस कर नयी संरचनाओं को जन्म दिया है। बीती सदी के आखिरी दशक में, जबसे भूमण्डलीकरण के नाम पर देशी-विदेशी पूंजी की नंगी लूट की नीतियों पर अमल शुरू हुआ, देश में सांस्कृतिक बदलावों की गति भी काफी तेज हो गयी है। आज गांवों में जो सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं उनके लक्षण तो 1960 के दशक में ही उभरने लगे थे। इस समय तक कृषि में पूंजीवादी विकास स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगा था। छोटे किसानों का उजड़ना, निर्वाह कृषि (Existence agriculture) यानी गुजर बसर के लिए होने वाली खेती से बाजारोन्मुख कृषि (Commercialised agriculture) में संक्रमण, यानी नकदी फसलों का भारी पैमाने पर उत्पादन और किसान आबादी का तीखा विभेदीकरण इसके ही लक्षण थे। लेकिन पिछले दस-बारह वर्षों में सर्वहाराकरण और दरिद्रीकरण की प्रक्रिया अभूतपूर्व रफ्तार के साथ आगे बढ़ी है। हमारे देश में भी उजरती गुलामों (Wage slaves) और बेरोजगारों की बैसी ही भीड़ दिखने लगी है जिसका विवरण चाल्स डिकेन्स ने अपने उपन्यासों में दर्ज किया है।

कहने का मतलब यह कि देश में पूंजीवादी

विकास के फलस्वरूप माल उत्पादन का विकास और समाज में श्रम विभाजन लगातार तीखा होता जा रहा है जो बेहद रुग्ण किसम के अलगाव को जन्म दे रहा है। भारतीय समाज में यह परिघटना सबसे पहले शहरी मध्यवर्ग की जिन्दगी में प्रकट होती है। मध्यवर्ग के मानस और संरचना में प्रकट होने वाले इन बदलावों को हिन्दी कथा-साहित्य में 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही दर्ज किया जा रहा था। समान्तर कहानी आन्दोलन से जुड़े रचनाकारों खासकर राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश त्रयी की रचनाएं शहरी मध्यवर्गीय जीवन की एक सरता, ऊब और अलगाव को आज से तीन दशक पहले ही दर्ज कर रही थीं। भारतीय समाज में सामन्ती पार्थ क्य (Segregation) तो पहले से ही मौजूद था पर अब बुर्जुआ अलगाव भी अपनी पैठ बना चुका था।

आज और आज यह महानगरीय जीवन की चौहटी से बाहर निकलकर औद्योगिक मजदूर वर्ग ही नहीं छोटे शहरों और गांवों की व्यापक मेहनतकश आबादी को भी अपनी चर्पें में लेता जा रहा है। इसलिए आज नये सिरे से समाज के रिश्तों, आत्मिक जीवन, मनोविज्ञान और अन्य पहलुओं को समझना जरूरी हो गया है।

वैसे तो अलगाव के सिद्धान्त का इतिहास हेगेल (कुछ के अनुसार रूसो) से शुरू होता है, पर अलगाव का सम्पूर्ण और विस्तृत सिद्धान्त कार्ल मार्क्स की देन है। मार्क्स अलगाव को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखते थे जिसके जरिये एक व्यक्ति, एक समूह एक संस्था या एक समाज अपने क्रियाकलापों के उत्पादों से और इस सजह से अन्य व्यक्तियों से या प्रकृति से या अपने द्वारा ऐतिहासिक रूप से रचित मानवीय संभावनाओं से यानी खुद से कट जाता है ये सारी स्थितियां अलगाव के होने पर एक साथ ही मौजूद हो सकती हैं। कहा जा सकता है कि अलगाव हमेशा स्वयं से अलगाव या आत्म अलगाव (Selfalienation) भी होता है।

मार्क्स के बाद दुनिया भर के तमाम साहित्यिक-बौद्धिक हलकों में अलगाव पर काफी चर्चाएं और बहसें चली हैं और इस अवधारणा का विस्तार भी हुआ है। एरिक फ्रॉम जैसे फ्रायडो-मार्क्सवादियों से लेकर जॉर्ज लूकाच जैसे मार्क्सवादी चिन्तकों के अध्ययनों

में अलगाव की अवधारणा का प्रमुख स्थान रहा है। लेकिन दुर्भाग्यवश भारत के बौद्धिक जगत में अलगाव की अवधारणा पर उतनी गहराई से चिन्तन-अध्ययन नहीं हो पाया है जितनी जरूरत थी। लेकिन फिर भी आज से दो दशक पहले भारतीय समाज में अलगाव की समझ पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में चर्चाएं होती रहती थीं। यह विडम्बना ही है कि आज जब समाज के भीतर अलगाव न केवल अधिक गहराई में पैठ बना चुका है। पर इसकी व्यापकता भी अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है, तो इस पर चर्चाएं बहुत कम ही पढ़ने-सुनने को मिलती हैं। ऐसा लगता है कि भूमण्डलीकरण के दौर की शुरुआत के बाद मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों की जो नयी पौढ़ी आयी है क्लासिकी मार्क्सवादी विरासत से पूरी तरह परिचित नहीं है। दरअसल बुद्धिजीवियों की वह पौढ़ी ही अब हमारे बीच से अनुपस्थित होती जा रही है जिसकी पैदाइश और परवारिश उस दौर में हुई थी जब अध्ययन की संस्कृति जिन्दा थी। आज के नये बुद्धिजीवियों का परिचय और आसक्ति उत्तर आधुनिक, उत्तर औपनिवेशिक, नव मार्क्सवादी विचार सरणियों से तो है लेकिन क्लासिकी बहसों से उनका कोई विशेष परिचय नहीं जान पड़ता है और क्लासिकी कृतियों की उनकी समझ अत्यन्त 'सेकेण्ड हैण्ड' और चलताऊ किस्म की जान पड़ती है। जो बुद्धिजीवियों एक हद तक इस अवधारणा को समझते भी हैं वे भी जाने अनजाने इस परिघटना के मूल स्रोत पर पर्दा डालते रहें और इसे महज एक मध्यवर्गीय परिघटना के रूप में चित्रित करते हैं।

इसके अतिरिक्त उच्च मध्यवर्गीय जीवन बिताते ये बुद्धिजीवी स्वयं ही जनता और श्रम से भीषण अलंगाव के शिकार हैं। ऐसे में ये सभी बुद्धिजीवी अलगाव की अवधारणा को भारतीय परिप्रेक्ष्य में अवस्थित कर समझने में अक्षम हैं। मार्क्स के अलगाव के सिद्धान्त से तो वे दूर हैं ही अपने वर्ग रूपान्तरण के चलते वे भारतीय जनमानस से भी वे कट गये हैं। इस कारण से भी आज अलगाव के सिद्धान्त की नये सिरे से चर्चा आवश्यक और वांछनीय है। अलगाव के प्रश्न पर शुरूआती चिन्तन। ...

जैसा कि पहले जिक्र किया गया है जर्मन दार्शनिक हेगेल अलगाव की परिघटना पर चिन्तन करने वाले पहले दार्शनिकों में से एक

थे। हेगेल की अलगाव की अवधारणा उनके मस्तिष्क के संवृत्तिशास्त्र (Phenomenology of mind) में अभिव्यक्त होती है। हेगेल के अनुसार अलगाव परम विचार (देमी उर्गोस) के स्वयं से अलगाव के साथ शुरू होता हैं परम विचार (देमी उर्गोस) का स्वयं से अलगाव प्रकृति के रूप में परिणामित होता है। यानी प्रकृति परम विचार का आत्म अलगावकृत रूप है। परम विचार (Self-alienated) स्वयं के अलगाव या आत्म अलगाव से मनुष्य के रूप में वापस आता है जो विपरकीयकरण (De-alienation) की प्रक्रिया में परम या निरपेक्ष (Absotute) है। यानी हेगेल के लिए स्वयं से अलगाव और विषरकीयकरण परम विचार के अस्तित्व के दो अलग रूप हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य नैसर्गिक रूप से एक स्वयं से कटी आत्मा है और मनुष्य ऐतिहासिक रूप से एक विपरकीयकृत अस्तित्व है, जो परम विचार के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

अलगाव के संदर्भ में हेगेल जो सबसे मार्क्स की बात कहते हैं वह यह है कि मनुष्य नैसर्गिक रूप से वस्तुओं का उत्पादन करता है (भौतिक, सामाजिक और राजनीतिक), और हर वस्तु का निर्माण अलगाव की घटना है। हर वस्तुकरण (objectification) या वस्तु का उत्पादन अलगाव को पैदा करना है, उत्पाद का उत्पादक से अलगाव। हेगेल कहते हैं कि इस अलगाव से परिस्थितियों का उचित ज्ञान प्राप्त करके ही बचा जा सकता है।

फायरबाख ने हेगेल के अलगाव के सिद्धान्त के उस हिस्से की आलोचना की जिसे "भाववादी हिस्सा" कहा जा सकता है। फायरबाख ने हेगेल का खण्डन करते हुए कहा कि मनुष्य स्वपरकीयकृत ईश्वर नहीं है, सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। यानी मनुष्य ने अपने एक अंश को स्वयं से अलग करके भगवान को बनाया है और उसे एक अलौकिक सत्ता प्रदान की है। मतलब यह हुआ कि ईश्वर स्वपरकीयकृत मनुष्य है, न कि इसके उल्ला। मनुष्य के मूलतत्व के निरपेक्षीकृत रूप को उससे काटकर ईश्वर की रचना हुई। मनुष्य अपने द्वारा बनाए गए ईश्वर के सामने नतमस्तक होता है, आरती उतारता है और घण्टी डोलाता है, जो दरअसल उसी का स्वपरकीयकृत और निरपेक्षीकृत रूप है। फायरबाख मानते हैं कि मनुष्य का

विपरकीयकरण इस कल्पित अस्तित्व के उन्मूलन से ही सम्भव है। यहाँ पर फायरबाख गलती करते हैं और अलगाव की गम्भीर और जटिल परिघटना को धर्म के चौखटे में कैद कर देते हैं।

मार्क्स के विचार

मार्क्स ने इस कमी को समझा और हेगेल और फायरबाख की खण्ड-खण्ड में और बिखरी हुई सही व्याख्याओं को व्यवस्थित किया और अलगाव के उद्गम को खोज निकाला। इसके साथ ही मार्क्स ने पूँजीवादी समाज में अलगाव की परिघटना का एक सम्पूर्ण और विस्तृत सिद्धान्त पेश किया।

खासतौर से '1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपिया' में मार्क्स ने हेगेल के अलगाव-सम्बन्धी सिद्धान्त का विश्लेषण किया। उन्होंने हेगेल की इस बात के लिए प्रशंसा की कि उन्होंने मनुष्य की आत्मरचना को एक प्रक्रिया के रूप में देखा और वस्तु के उत्पादन के हर उदाहरण को अलगाव की परिघटना माना।

लेकिन धर्म वाले मामले में मार्क्स ने फायरबाख को सही माना। फिर भी उन्होंने बताया कि धर्म का मनुष्य के परकीयकृत रूप में पैदा होना, अलगाव की परिघटना का एक बेहद सीमित और तमाम पहलुओं में से एक पहलू है।

मार्क्स ने इस बात को समझा और अलगाव की परिघटना को धर्म की चारदीवारी से मुक्त करते हुए एक सामान्यीकृत सिद्धान्त का निर्माण किया।

मनुष्य माल, मुद्रा और पूँजी के रूप में अपने आर्थिक क्रियाकलापों के उत्पाद को स्वयं से काट कर स्वतंत्र शक्ति बनाता है। माल, मुद्रा और पूँजी के रूप में अपने आर्थिक क्रियाकलापों के उत्पाद को स्वयं से काट कर स्वतंत्र शक्ति बनाता है। माल अन्धभक्ति (Commodity fetishism) भी मूलतः अलगाव का ही एक रूप हैं इसी तरह से अपनी सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों के उत्पादों को वह सरकार, राज्य और कानून आदि के रूप में स्वयं से काट देता हैं इस तरह मनुष्य अपनी तमाम गतिविधियों के फल को स्वयं से अलग कर भौतिक वस्तुओं और संस्थाओं का एक शक्तिशाली संसार बनाता

है और खुद ही उसका गुलाम बन जाता है।

वह न सिर्फ अपने श्रम के उत्पादों से स्वयं को काटता है, बल्कि उस श्रम या गतिविधि से ही स्वयं को काट लेता है जिससे वह उत्पादों की यह दुनिया खड़ी करता है इस तरह वह प्रकृति और अपने ईर्द-गिर्द के लोगों से भी स्वयं को काट लेता है।

अलगाव के यह सभी रूप अंतिम विश्लेषण में हमें एक ही नतीजे पर ले जाते हैं-

ये सभी मनुष्य के आत्म-अलगाव (Self-alienation) की ही अलग-अलग अभिव्यक्तियां हैं, उसके मानवीय सारतत्व और अपनी मानवीयता से ही कट जाने की अभिव्यक्तियां हैं।

मार्क्स ने न सिर्फ अलगाव की परिघटना को विश्लेषित किया और व्याख्यायित किया बल्कि उन्होंने जोर देकर यह बतलाया कि काप्युनिज्म की प्राप्ति 'मनुष्य का पुनर्जटन है, उसका स्वयं तक लौटना है, उसके आत्म-अलगाव का निजी सम्पत्ति के निश्चयात्मक उन्मूलन द्वारा, स्थगन है और इस प्रकार मनुष्य द्वारा और उसके लिए मानव प्रकृति का वास्तविक आत्मीयकरण है।'

श्रम विभाजन की लगातार जारी प्रक्रिया (आदिम कम्युनिज्म, दास समाज, सामंतवाद-पंजीवाद- अन्तरविरोधों और वितरण) की असमानताओं को जन्म देती है। व्यक्ति समाज को जो योगदान देता है और जिस समाज को योगदान देता है, दोनों के बीच एक पार्थक्य पैदा होता है। मनुष्य को क्या करना है, यह तय करने की स्वतंत्रता खोनी पड़ती है।

लेकिन इन सब के मूल में कौन सी चीज़ है? क्यों मनुष्य अपने श्रम से कट जाता है? इन सारे स्वालों का जवाब पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया और उत्पादन संबंधों में निहित है। इस संदर्भ में मार्क्स ने अपने विचारों को एक ठोस रूप और कारणात्मक आधार 'ग्रुनरिस्से' (Grundrisse) में दिया।

उत्पादन के दौरान मजदूर अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। यह मूल्य फिर से वस्तु में रूपान्तरित श्रम के रूप में जीवित श्रम से विनियम की प्रक्रिया में पूँजी बनकर प्रकट होता हैं इस प्रकार वह स्वयं को दो भागों में विभक्त करता है- श्रम की वस्तुगत स्थितियां (Objective conditions of labour), यानी भौतिक स्थितियां और औजार तथा श्रम की आत्मगत (Subjective conditions

of labour), यानी मजदूर की जरूरतें और आजीविका। उत्पादन के पहले चक्र में मूल्य के रूप में प्रविष्ट मुद्रा दूसरे चक्र में पूँजी के अवतार में प्रवेश करती हैं। पहले चक्र की पूर्व मान्यताएं अर्थिक गतिविधियों से नहीं पैदा होती थीं, वे पूँजी के जन्म के लिए बाहर से पैदा होने वाली मान्यताएं थीं। लेकिन दूसरे चक्र में ये बाह्य मान्यताएं अब पूँजी के संचरण के अलग-अलग घटकों के रूप में दिखाई देती हैं। अब अतिरिक्त श्रम वास्तवीकृत रूप में अतिरिक्त उत्पाद का जामा पहन लेता है।* यहीं अतिरिक्त उत्पाद अपनी पूर्णता में- अतिरिक्त श्रम को पूर्णता में वास्तवीकृत करके- अतिरिक्त पूँजी का रूप ग्रहण करता है, एक स्वतंत्र विनियम मूल्य के रूप में, जिसमें जीवित श्रम के उपयोग मूल्य की एक विशिष्टीकृत अभिव्यक्ति होती है, जिसे विशिष्ट उपयोग मूल्य (Specific use value) कहा जा सकता है।

श्रम की वस्तुगत स्थितियों और जीवित श्रम का यह अलगाव इस हद तक जाता है कि ये वस्तुगत स्थितियां परकीयकृत सम्पत्ति (alien property) के रूप में मजदूर के विरोध में खड़ी हो जाती है, मजदूर का श्रम ही परकीयकृत श्रम (alien Labour) प्रतीत होने लगता है। श्रम और सम्पत्ति के बीच, जीवित श्रम शक्ति और इसकी वसूली की स्थितियों के बीच, वास्तवीकृत और जीवित श्रम के बीच, मूल्य और मूल्य उत्पादक गतिविधि के बीच यह निरपेक्ष अलगाव, मजदूर के वास्तवीकृत श्रम के रूप में प्रकट होता है, जिस पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता है।* यह पूँजी के रूप में प्रकट होता है और मजदूरों के लिए बेतरह असंवेदनशील और क्रूर साबित होता है। श्रम शक्ति इस दौरान अपने लिए बस वही चीजें जुटा पाती हैं जो उसके पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक होती हैं, और बदले में ऐसी चीजें और मूल्य रचती हैं जो उसके लिए परायी (alien) होती हैं और उस पर शासन करती हैं। इस तरह इस जीवित श्रम शक्ति ने न केवल परकीयकृत समृद्धि (Alien wealth) और अपनी दरिद्रता पैदा कर दी है। बलिक वे संबंध भी पैदा कर दिये हैं जिसके जरिये यह समृद्धि उससे स्वतंत्र होती जाती है, उसी श्रम के बूते पर और उसकी बढ़ती दरिद्रता के अनुपात में। यह सब कुछ वास्तवीकृत

श्रम (या मालों) से मजदूर की श्रमशक्ति के विनियम से शुरू होता है, जो दरअसल मजदूर द्वारा स्ववस्तुकरण (Self objectification) की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है। यह एक ऐसी शक्ति के रूप में उसका वास्तवीकरण होता है, जो उससे न सिर्फ स्वतंत्र होती है, बल्कि उस पर उसी के श्रम द्वारा शासन करती है।

इस तरह से मजदूर अपने श्रम, श्रम प्रक्रिया और उसके उत्पाद से कट जाता है। लेकिन पूँजीवादी अलगाव की कहानी यहीं खत्म नहीं होती। पूँजीवाद मजदूरों को उत्पादन के निर्णयों से भी काट देता है। सारे निर्णय वही स्वतंत्र सत्ता लेती है जिसे मजदूर पैदा करता है और पूँजीपति के रूप में जिसका व्यक्तित्व आरोपण (personification) होता है। उत्पादन शुरू होने से लेकर उत्पाद के बिक जाने तक मजदूर सिर्फ सभी निर्णय लेने वाली सत्ता को अपने अतिरिक्त श्रम या परकीयकृत श्रम से मजबूत करता रहता हैं क्या पैदा करना है, कितना पैदा करना है, किसके लिए पैदा करना है, कैसा कच्चा माल इस्तेमाल करना है, क्या तकनीक इस्तेमाल करनी है, यह सब तय करने में मजदूर की कोई भूमिका नहीं होती है।

मजदूर सैद्धान्तिक स्तर पर इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं कि वे अतिरिक्त श्रम मुहैया कर अपने ऊपर शासन करने वाली सत्ता को लगातार मजबूत बना रहे हैं। लेकिन वे सामान्य बुद्धि और अनुभव के स्तर पर इतना समझ जाते हैं कि पूँजीपति श्रम सघनता बढ़ाकर अपना मुनाफा बढ़ाना चाहते हैं और इससे मजदूरों को कोई लाभ नहीं होगा। ऐसे में मजदूरों की भौतिक सम्पदा के उत्पादन में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती है।

यह बात कलर्क, बाबू, सभी पर लागू होती है। कोई भी श्रम करने वाला तबका पूँजीवादी समाज में अपने श्रम से संबंधित निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र नहीं होता है, न ही अपने श्रम के उत्पाद पर उसका नियंत्रण होता है लेकिन मध्यम वर्ग में अलगाव का कारण अपने श्रम की उपज और निर्णय लेने के अधिकार से कट जाने के अलावा श्रम से ही कट जाना भी होता है। यह तबका उत्पादन की गतिविधियों से सीधे तौर पर नहीं जुड़ा होता है। न ही उसके कार्य की प्रकृति सामाजिक होती है। उसका पेशा ही अक्सर परकीयकृत

पेशा होता है। मिसाल के तौर पर एक नौकरशाह जो पूँजीवाद में वस्तुओं से लेकर आदमियों तक को उस पूँजी के लिए "व्यवस्थित" करता है जो खुद उससे कटी होती है। वह उन लोगों से भी कटा होता है जिन्हें उसे प्रशासित करना होता है। वे लोग भी दरअसल उसके लिए वस्तुओं और संख्याओं से अधिक कुछ नहीं हैं। मार्क्स ने कहाँ पर ठीक ही लिखा है: "नौकरशाह अपने आप को दुनिया से अपनी गतिविधि के एक मामूली प्रयोजन के रूप में संबद्ध देखता है।" अर्जन और उपभोग की प्रक्रिया में मुद्रा भी एक अलगावकारी शक्ति की भूमिका अदा करती है। मार्क्स ने मुद्रा की भूमिका का बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है:

"मुद्रा ... मनुष्य तथा प्रकृति की वास्तविक सारभूत शक्तियों को मात्र अमूर्त धारणाओं... में बदल देती है। इस प्रकार मात्र इस अभिलाक्षणिकता के अनुसार मुद्रा विशिष्टताओं की सार्विक विकृति है, जो उन्हें उनके प्रतिलोम में बदल डालती है तथा उन्हें ऐसे गुणों से सम्पन्न करती है जो उनके लिए विरोधाभासपूर्ण हैं।"

इस विकृतकारी शक्ति के रूप में मुद्रा फिर व्यक्ति के विरुद्ध तथा समाज के बन्धनों आदि के विरुद्ध, जो आत्मनिर्भर स्वतंत्र होने का दावा करते हैं, प्रकट होती है। वह निष्ठा को अनिष्ठा, प्यार को धृणा, धृणा को प्यार, अच्छाई को बुराई, बुराई को अच्छाई, दास को स्वामी, स्वामी को दास, मूर्खता को बुद्धि, बुद्धि को मूर्खता में बदल देती है।" (1844 की आर्थिक और दार्शनिक पाण्डुलिपियां)

मध्यम वर्ग में मुद्रा की इस कपटपूर्ण जादूगी को खूब देखा जा सकता है।

मध्यमवर्ग में अलगाव की एक और अभिव्यक्ति को एरिक फ्रॉम रेखांकित करते हैं। वह कहते हैं कि हम चीजें को अर्जित करते हैं बस उन्हें पाने के लिए। अक्सर उसके उपयोग के लिए नहीं, बस उसे पाने के लिए लोग महंगी, नाजुक चीजें खरीदते हैं लेकिन दूट जाने के डर से उनका इस्तेमाल नहीं करते। तमाम किस्म की चीजें उनके पास इस्तेमाल किये जाने की खातिर नहीं, वो बस उनके अधिकार में हैं, और इससे उन्हें सनुष्टि मिलती है। कारण यह है कि ये वस्तुएं समाज में उन्हें एक ओहदा या दर्जा प्रदान करती हैं।

वैसे ही हम पेप्सी या कोका कोला पीते हुए या कैडबरी की चॉकलेट खाते हुए वह मिथ्याप्रभ खा या पी रहे होते हैं जो प्रचार अभियान पैदा करते हैं। संक्षेप में: उपभोग की क्रिया एक ठोस मानवीय गतिविधि नहीं रह जाती जिसमें हम एक महसूस कर सकते वाले निर्णय लेने के काबिल इंसानों के तौर पर हिस्सा लेते हैं। आज मध्यम वर्ग में उपभोग कृत्रिम रूप से पैदा किए गए मिथ्याभासों की पुष्टि है, जो हमारे व्यक्तित्व से परकीयकृत है और उसे शासित कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त मध्यम वर्ग ऐसे मालों के अम्बार से घिरा हुआ है जिसकी प्रकृति और उत्पादन के बारे में वह या तो पूर्णतया अनभिज्ञ है या उतना ही जानता है जितना उसने अपने स्कूल की पाठ्य पुस्तक में पढ़ा था। वह इतना तो जानता है कि किसी मशीन में कौन-सा बटन दबाएं तो क्या होगा लेकिन वह यह नहीं जानता कि वह मशीन किस सिद्धान्त पर काम करती है। वह ब्रेड खाता है, कोल्ड ड्रिंक पीता है, कपड़े पहनता है, लेकिन इन चीजों के उत्पादन से उसका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है। लेकिन उपभोग की उसकी आवश्यकता लगातार बढ़ती ही जा रही है। उपभोग का बढ़ना अपने आप में कोई गलत बात नहीं है। जब भी मनुष्य उत्पादन, संस्कृति आदि के उन्नत धरातल पर पहुंचता है तो खाने-पीने की, बेहतर कपड़े व अन्य वस्तुओं की उसकी

जरूरतें बढ़ती हैं। लेकिन इस हालत में यह विस्तार मनुष्य के लिए एक लक्ष्य की प्राप्ति का जरिया है लेकिन आज स्थिति बिल्कुल अलग है, उपभोग अपने आप में ही लक्ष्य बन गया है मार्क्स ने इसको कुछ यूं अभिव्यक्त किया: "मालों के बाहुल्य के साथ परकीयकृत वस्तुओं का राज्य बढ़ता जाता है, जो मनुष्य को गुलाम बनाता है।"

मनुष्य सिर्फ अपने श्रम, उसके उत्पादन अपने उपभोग की वस्तुओं से ही नहीं बल्कि उन सामाजिक शक्तियों से भी कट जाता है जो पूरे समाज के स्वरूप का निर्धारण करती हैं।

पूँजीवादी समाज में जी रहे मनुष्य की यह असहायता तब और भी मुख्य हो जाती है जब मंदी या युद्ध जैसी कोई सामाजिक-आर्थिक आपदा आती है, जिनकी राजसत्ता हर बार अफसोसनाक दुर्घटना के रूप में भर्तसना करती है लेकिन उन्हें घटने से कभी रोक नहीं पाती। ये दुर्घटनाएं ऐसे पेश की जाती हैं, गोया वे कोई प्राकृतिक आपदा हों। सामाजिक शक्तियों के बारे में यह अनभिज्ञता भी पूँजीवादी समाज में अलगाव की ही एक अभिव्यक्ति है।

लेकिन यह स्पष्ट कर देना यहां बेहद जरूरी है कि मध्यम वर्ग में प्रतिबिम्बित अलगाव के सभी रूप दरअसल पैदा तो अपने श्रम, उसकी उपज और निर्णय लेने के अधिकार से कट जाने से ही होते हैं।

मार्क्स की इन प्रस्थापनाओं की रोशनी में

आगर हम अलगाव की परिधिना को आज के भारत में अवस्थित करें तो भारतीय जनमानस को समझने में काफी मदद मिलेगी और साथ ही इसे दूर करने (यानी समाजवाद की प्राप्ति और फिर कम्युनिज्म की ओर प्रयाण) की कई समस्याओं पर रोशनी पड़ेगी। यह एक ऐसी चीज है जो लम्बे समय से भारतीय क्रांतिकारी साहित्य में एक जरूरत बनी हुई है।

"... श्रम- विभाजन हमारे सामने इस बात की पहली मिसाल पेश करता है कि जब मनुष्य स्वतः स्फूर्त समाज में रहता है, अर्थात् जब तक विशेष तथा सामान्य हित के बीच दरार मौजूद रहती है और इसलिए जब तक क्रियाकलाप स्वैच्छिक रूप से नहीं बल्कि नैसर्गिक रूप से विभक्त रहता है, मनुष्य का अपना कार्य उसके ही विरुद्ध ऐसी विजातीय शक्ति बन जाता है, जो उसके नियंत्रण में होने की जगह उसे दास बनाती है।"

- कार्ल मार्क्स
(जर्मन विचारधारा)

'आह्वान' यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ■ जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर ■ विजय इन्फोर्मेशन सेण्टर, कचहरी बस स्टेशन, गोरखपुर ■ विश्वनाथ मिश्र, नेशनल पी.जी. कालेज, बड़हलांग, गोरखपुर ■ जनचेतना, फैटी-68, निरालगांव, लखनऊ-226020 ■ गहलू फाउण्डेशन, 69, बाबा का पुरावा (पुराना), ऐप्रेमिल रोड, निशांतगंग, लखनऊ ■ विमल कुमार, बुक्स स्टाल, नीतोपरी काम्प्लेक्स के सामने, ईदगाहनगर, लखनऊ ■ कृष्णगोविन्द सिंह, एस.एच. 1/49, ए-24 (प्रथम तल), जयनगर कालोनी, गिल बाजार, वाराणसी ■ प्रोत्सव बुक सेण्टर, विश्वनाथ मन्दिर गेट, चौ.एच.यू. प्रेसर, वाराणसी ■ शहीद पुस्तकालय, द्वारा डा. दूध नाथ, जगनग छापों सेवासदन, मर्यादा, मऊ ■ गोंदेन प्रसाद, न्यू मेडिकल की गोदी, मुख्य सड़क, रोड़कुर, सोनभद्र ■ डी.सी.सचन, एस.एच.-272, शास्त्रीनगर, गाजियाबाद, ■ अरुण कुमार चौबे, सर्वोदय बुक स्टाल एलेटफार्म नं.-5 रेलवे एस्टेंशन वाराणसी, कैटर वाराणसी, ■ कृष्ण कुमार श्रीवास्तव, पुत्र श्रीशिवशंकर श्रीवास्तव ग्राम व पोर्ट मुकुराड़ी, जिला रायबरेली, ■ गहलू पुस्तक सेण्टर, निकट विजय श्री, खरौली कोटी रेसेन रोड, बिलाया, ■ गार्ग विक्रिय पटल, 127 न्यू आवास विकास कालोनी, सहारनपुर, उत्तरांचल ■ विजय कुमार, 55/3, ई.डब्ल्यू.एस., आवास-विकास, रुद्रपुर (ऊद्धमसिंहनगर) ■ अविज्ञान श्रीवास्तव, 87, पत्त भवन, पत्त नगर विश्वविद्यालय, (ऊद्धमसिंहनगर) ■ गम्भाल सिंह, भरतीय जीवन बीमा निगम, रुद्रपुर (ऊद्धमसिंहनगर) ■ प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पत्तनगर ■ दिल्ली ■ सत्यम वर्ग, 81, समाचार अपार्टमेंट, मध्यूर विहार, फेज-1, दिल्ली ■ अभिनव

सिंहा, रूम नं.-17, रामजस हास्टल दिल्ली विश्वविद्यालय, ■ जनचेतना, चलता फिरता पुस्तक केन्द्र, चौका मोड़, नोडा (सार्व 5 से 8 बजे तक) ■ गीता बुक स्टोर, जे.एन.यू. बुक कार्नर, श्रीमान सेंटर, मंडी हाउस ■ पलिका मंडप, कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय ■ नई किरण पुस्तक भण्डार, 56, हक्केश नगर, ओखलाह, दिल्ली हरियाणा ■ नरभिंदर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.पो.-संतनगर, जिला-सिरसा, पंकज, प्लाट नं.-33, सेक्टर 15, सोनीपत पंजाब ■ राणा बुक स्टोर, निकट पी.यू.डी.ए. अफिस भाग रोड भटिण्डा, बिहार ■ समकालीन प्रकाशन (प्रा.लि.), पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, रामनगराया, राय, द्वारा ग्रावर पटेल, कपड़े की दुकान साहेबगंग पोस्ट करौल, जिला मुजफ्फरपुर, बांगल ■ जर्नाल थापा, लुकसान बाजार, पो. करेन, वि.जलपाइयुड़ी ■ सी.पी. सोरेज, सनराइज स्कूल, छोटा अदलपुर, सेमलबाड़ी, दार्जिलिंग ■ राकेश गोरखा, पाठ्यभाग पुस्तक पसल, प्रधान नगर, सिल्लीयुड़ी, ■ मनाज गिरि, द्वारा लोकनाथ निराता, निकटआचार्य कलब, नया बाजार कर्मियांग-दार्जिलिंग। मध्य प्रदेश ■ विकल्प सांस्कृतिक मोर्चा, 22 स्वातिक काम्प्लेक्स, रसेल चैक, जबलपुर, ■ जैनसन बुक शॉप एण्ड स्टेंशनर्स, 33 बक्षी गली, बीसावारकर मार्केट राजवाड़ा इन्डैरा। महाराष्ट्र ■ पीपुल्स बुक हाउस, 15 कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, मुम्बई, ■ बम्बुन्हा, 602, गेटवे प्लाज़ा, हीरानन्दानी गार्डेन, पर्वई, मुम्बई। राजस्थान ■ कविता, द्वारा योगेश कुमार, 94, मोहनगर (त्रिवेणीनगर), गोपलतुग बाईपास, ■ सुधाचंद्र, 221 सुदर्वास, गोप स्टोर मिल के पास, उदयपुर, जयपुर ■ बुक्स एण्ड न्यूज़ मार्ट, एम.आई.रोड, जयपुर। असम ■ शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, तिनसुकिया। नेपाल ■ विश्व नेपाली पुस्तक सदन, ब्रवण पथ, बुटवल, रुपनदेव